नामवर सिंह

जन्म	:	28 जुलाई 1927 ।
जन्म-स्थान	:	जीअनपुर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश ।
माता-पिता	:	वागेश्वरी देवी एवं नागर सिंह (एक शिक्षक) ।
शिक्षा	:	प्राथमिक : आवाजापुर एवं कमालपुर, उत्तर प्रदेश के गाँवों में; हाई स्कूल : हीवेट क्षत्रिय स्कूल, बनारस; इंटर: उदय प्रताप कॉलेज, बनारस; बी०ए० और एम०ए० बी०एच०यू० से क्रमशः 1949 एवं 1951 में । पी-एच० डी० : बी०एच०यू० में 'पृथ्वीराजरासो की भाषा' विषय पर 1956 में ।
वृत्ति	:	1953 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अस्थाई व्याख्याता । 1959-1960 में सागर विश्वविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर । 1960-65 तक बनारस में रहकर स्वतंत्र लेखन । 'जनयुग' (साप्ताहिक), दिल्ली में संपादक और राजकमल प्रकाशन में साहित्य सलाहकार भी रहे । 1967 से 'आलोचना' त्रैमासिक का संपादन, 1970 में जोधपुर विश्वविद्यालय, राजस्थान में हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रोफेसर के रूप में नियुक्त, 1974 में कुछ समय तक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक, 1974 में ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के भारतीय भाषा केंद्र में हिंदी के प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति, 1987 में जे० एन० यू० से सेवामुक्ति । पुनः अगले पाँच वर्षों के लिए वहीं पुनर्नियुक्ति । 1993-96 तक राजा राममोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन के अध्यक्ष । संप्रति : 'आलोचना' त्रैमासिक के प्रधान संपादक ।
सम्मान	:	1971 में 'कविता के नए प्रतिमान' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार ।
कृतियाँ	:	बकलम खुद (व्यक्ति व्यंजक ललित निबंध), हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, छायावाद, पृथ्वीराज रासो की भाषा, इतिहास और आलोचना, कहानी : नई कहानी, कविता के नए प्रतिमान, दूसरी परंपरा की खोज, वाद विवाद संवाद (आलोचना), कहना न होगा (साक्षात्कारों का संग्रह), आलोचक के मुख से (व्याख्यानों का संग्रह) एवं अनेक संपादित पुस्तकें ।

डॉ० नामवर सिंह हिंदी आलोचना की एक शिखर प्रतिभा हैं जिनका विकास बीसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ । स्वतंत्रता के बाद की उत्तरशती में हिंदी भाषा और साहित्य में एक अभिनव उत्कर्ष और उभार आया जिसे सामान्यतः लोकप्रतिबद्ध यथार्थवाद के रूप में पहचाना जा सकता है । आलोचना के क्षेत्र में इस उत्कर्ष और उभार को नामवर सिंह के साहित्य में लक्षित किया जा सकता है । नामवर सिंह की आलोचना में गहरी ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि, परंपरा के रचनात्मक तंतुओं की पहचान एवं सार-सहेज, सूक्ष्म समयबोध और लोकनिष्ठा के साथ-साथ साहित्य-कृतियों में रूप एवं अंतर्वस्तु की मार्मिक समझ दिखाई पड़ती है । साहित्यिक कृतियाँ, संरचनाएँ और प्रवृत्तियाँ गणित के फॉर्मूलों की तरह सहज और सपाट नहीं होतीं । उनमें समाज, व्यक्ति या इतिहास के तथ्य लेखकीय मानस में आभ्यंतरीकृत होकर बहुत कुछ बदल जाते हैं तथा एक जटिल या संश्लिष्ट रूप धारण कर लेते हैं । स्वभावतः आलोचक में सामान्य प्रबुद्ध

या जागरूक पत्रकार अथवा शास्त्रीय विद्वान की तुलना में एक विशेष प्रकार की अभिज्ञता, सहृदयता और कल्पनाशील बौद्धिक निपुणता वांछित होती है । नामवर सिंह में ये खूबियाँ बदस्तूर हैं । आलोचक में संग्रह और त्याग का एक नित्य चेतन विवेक होना चाहिए और साथ ही सहृदय सहानुभूति का नैसर्गिक गुण भी । कहना न होगा कि नामवर सिंह में ये विशेषताएँ अपने निखरे हुए रूप में पाई जाती हैं । हृदय और बुद्धि का आलोचनात्मक तनाव भरा द्वंद्वात्मक संतुलन उनकी आलोचनात्मक दृष्टि की आधारभूत विशेषता है ।

नामवर सिंह का अध्ययन विस्तृत और गहन है । साहित्य के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों का अंतरानुशासनात्मक अध्ययन नामवर सिंह ने किया है । साहित्य, भाषाशास्त्र, काव्यशास्त्र, पाश्चात्य आलोचना आदि विषय तो सीधे उनकी अभिरुचि और लेखन कर्म के अंग ही हैं । नामवर सिंह पेशे से हिंदी प्राध्यापक रहे हैं, और वे देश के शीर्षस्थ हिंदी प्रोफेसर के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके हैं । साहित्य के छात्र और आलोचक के रूप में वे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शिष्य रह चुके हैं । द्विवेदी जी स्वयं रवींद्रनाथ के संसर्ग में विश्वभारती (शांति निकेतन) में हिंदी के आचार्य रह चुके थे । इस तरह आलोचना के क्षेत्र में रवींद्रनाथ ठाकुर और हजारी प्रसाद द्विवेदी की विरासत डॉ० नामवर सिंह को प्राप्त हुई, जिसे वे 'दूसरी परंपरा' कहते रहे हैं । नामवर सिंह अपने गुरु द्विवेदी जी की तरह ही एक ओजस्वी और प्रभावशाली वक्ता के रूप में अंतरराष्ट्रीय यश अर्जित कर चुके हैं ।

नामवर सिंह को हिंदी आलोचना को एक लालित्यपूर्ण सर्जनात्मक भाषा और मुहावरा देने का श्रेय प्राप्त है । उनकी पहचान हिंदी के आलोचकों की गौरवपूर्ण परंपरा की एक अपरिहार्य कड़ी के रूप में की गई है । वे मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित प्रगतिशील आधुनिक आलोचक के रूप में आज भी अपनी जीवंत उपस्थिति बनाए हुए हैं ।

इस पाठ्यपुस्तक में संकलित निबंध उनके आलोचनात्मक निबंधों की पुस्तक 'वाद विवाद संवाद' से लिया गया है । इस निबंध में हजार वर्षों में फैली हिंदी काव्य परंपरा पर ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि के साथ विचार करते हुए 'प्रगीत' नामक काव्य रूप की निरंतरता को हिंदी समाज की जातीय प्रकृति और भाव प्रवाह की उपज के रूप में परिभाषित किया गया है । कोई भी काव्य रूप ऐतिहासिक-सामाजिक जरूरतों की उपज और संपूरक हुआ करता है । हिंदी में 'प्रगीत' की सामाजिकता और ऐतिहासिकता क्या है और कैसी रही है, हमारी साहित्यिक परंपरा में उसकी अहमियत क्या है—इन बातों की पड़ताल यह निबंध अत्यंत संयत और प्रसन्न विवेचन शैली तथा भाषा में करता है । आलोचना महज गुण-दोष विवेचन से आगे बढ़कर कुछ और भी है; वह इतिहास और परंपरा की पहचान करती हुई सामयिक समस्याओं और तथ्यों को ऐतिहासिक-सामाजिक अंतर्संगति में गहराई से पहचानना भी सिखाती है; वह वर्तमान को अधिक गहराई के साथ जानने-समझने की अंतर्दृष्टि जगाती है—यह सब इस निबंध से सीखा जा सकता है ।

◆ ◆ ◆

"नामवर सिंह की समीक्षा तथा सैद्धांतिक व्याख्या में रचनात्मक साहित्य जैसा लालित्य है । लगता है कोई ललित गद्य पढ़ रहे हैं । आमतौर पर समीक्षा की भाषा शुष्क और उबाऊ होती है । पर नामवर जी की भाषा और शैली बहुत प्रभावी है । सहज ढलान है उनके लेखन में । सीढ़ियाँ चढ़ना या उतरना नहीं पड़ता । वे मुहावरों का अच्छा प्रयोग करते हैं । संबोधन पद्धति से तर्क को जीवंत बनाते हैं । उनकी भाषा में विलक्षण 'लुसीडिटी' है । कटाक्ष है, व्यंग्योक्ति है, वक्रोक्ति है, व्याज स्तुति और व्याज निंदा है और 'विट्' है ।"

– हरिशंकर परसाई

'प्रगीत' और समाज

कविता पर समाज का दबाव तीव्रता से महसूस किया जा रहा है । इधर आलोचना भी ज्यादातर कविताओं की सामाजिक सार्थकता ढूँढ़ने में ही व्यस्त है । ऐसे वातावरण में गलत समझे जाने का खतरा उठाकर भी मैं विशेष रूप से उन कविताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो सीधे-सीधे सामाजिक न होकर अपनी वैयक्तिकता और आत्मपरकता के कारण 'लिरिक' अथवा 'प्रगीत' काव्य की कोटि में आती हैं । आज चर्चा के लिए इन प्रगीतधर्मी कविताओं को चुनने का एक कारण यह भी है कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण अथवा सामाजिक व्याख्या के लिए सबसे कठिन चुनौती भी इन्हीं की ओर से मिलती है ।

कविता में जहाँ तक सामाजिक यथार्थ और व्यापक जीवन के चित्रण का प्रश्न है, सामान्यतः दृष्टि प्रबंधकाव्यों और लंबी कविताओं की ओर ही जाती है । प्रगीतधर्मी कविताएँ न तो सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त समझी जाती हैं, न उनसे इसकी अपेक्षा की जाती है, क्योंकि सामान्य समझ के अनुसार वे अंततः नितांत वैयक्तिक और आत्मपरक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मात्र हैं ।

स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य सिद्धांत के आदर्श भी प्रबंधकाव्य ही थे, क्योंकि "प्रबंधकाव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है ।" 'सूर सागर' भी उन्हें इसीलिए परिसीमित लगा क्योंकि वह 'गीतिकाव्य' है । आधुनिक कविता से उन्हें शिकायत भी इसीलिए थी कि 'कला कला' की पुकार के कारण यूरोप में प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) का ही चलन अधिक देखकर यहाँ भी उसी का जमाना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लंबी कविताएँ पढ़ने की किसी को फुरसत कहाँ जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता हो । अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे-छोटे प्रगीत-मुक्तकों में ही संभव है । इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जानेवाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बंद सी हो गई । इसीलिए ज्यों ही प्रसाद की 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' तथा 'कामायनी' और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास'--जैसे आख्यानक काव्य सामने आए तो आचार्य शुक्ल ने संतोष व्यक्त किया ।

स्वीकार करना चाहता हूँ कि पंद्रह वर्ष पहले 'कविता के नए प्रतिमान' में कविता के प्रतिमान का व्यापकता प्रदान करने के लिए जब मैंने मुक्तिबोध की लंबी कविताओं जैसी वस्तुपरक नाट्यधर्मी कविताओं को भी विचार की सीमा में ले आने के लिए आग्रह किया था तो आत्मपरक प्रगीतधर्मी छोटी कविताओं में निहित सामाजिक सार्थकता की संभावनाओं का पूरा-पूरा एहसास न था । लेकिन इस बात में न तब संदेह था और न अब संदेह है कि नई कविता के अंदर आत्मपरक कविताओं की एक ऐसी प्रबल प्रवृत्ति थी

जो या तो समाज निरपेक्ष थी या फिर जिसकी सामाजिक अर्थवत्ता सीमित थी । इसीलिए इन सीमित अर्थभूमिवाली कविताओं के आधार पर निर्मित एकांगी एवं अपर्याप्त काव्य सिद्धांत के दायरे को तोड़कर एक व्यापक काव्य सिद्धांत की स्थापना के लिए मुक्तिबोध की कविताओं का समावेश ऐतिहासिक आवश्यकता थी । किंतु इनके बाद भी ऐसी अनेक आत्मपरक प्रगीतधर्मी छोटी कविताएँ बच रहती हैं जो अपनी सामाजिक अर्थवत्ता के कारण उस काव्य सिद्धांत को व्यापक बनाने में समर्थ हैं ।

इस दिशा में पुनर्विचार के लिए, सच पूछिए तो, मुझे सबसे पहले प्रेरणा स्वयं मुक्तिबोध के काव्य से ही मिली । मुक्तिबोध ने सिर्फ लंबी कविताएँ ही नहीं लिखीं । उनकी अनेक कविताएँ छोटी भी हैं, और छोटी होने के बावजूद लंबी कविताओं से किसी कदर कम सार्थक नहीं हैं । वे कविताएँ अपने रचना-विन्यास में प्रगीतधर्मी हैं । किसी-किसी के मत में तो "नाटकीय रूप के बावजूद मुक्तिबोध की काव्यभूमि मुख्यत: प्रगीतभूमि है ।" इसमें कोई शक नहीं कि मुक्तिबोध का समूचा काव्य मूलत: आत्मपरक है–तीव्रतम रूप में । रचना-विन्यास में कहीं वह पूर्णत: नाट्यधर्मी है, कहीं नाटकीय एकालाप है, कहीं नाटकीय प्रगीत है और कहीं शुद्ध प्रगीत भी: जैसे 'सहर्ष स्वीकारा है' अथवा 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' । जैसा कि कवि ने एक जगह स्वयं लिखा है : "निस्संदेह उसमें कथा केवल आभास है, नाटकीयता केवल मरीचिका है, वह विशुद्ध आत्मगत काव्य है ।" जहाँ नाटकीयता है वहाँ भी "कविता के भीतर की सारी नाटकीयता वस्तुत: भावों की है ।" जहाँ नाटकीय है वहाँ भी "कविता के भीतर की सारी नाटकीयता वस्तुत: भावों की गतिमयता है" क्योंकि "वहाँ जीवन यथार्थ केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है, या बिंब बनकर या विचार बनकर ।" इस प्रकार यह आत्मपरकता अथवा भावमयता मुक्तिबोध की सीमा नहीं, बल्कि शक्ति है जो उनकी प्रत्येक कविता को गति और ऊर्जा प्रदान करती है । इस गति और ऊर्जा का मूल स्रोत है इस काव्य के प्रगीत नायक का व्यक्तित्व । यह नई कविता के उन प्रगीत नायकों से एकदम भिन्न है जिनके 'अंत:करण का आयतन संक्षिप्त है ।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये आत्मपरक प्रगीत भी, नाट्यधर्मी लंबी कविताओं के सदृश ही यथार्थ को प्रतिध्वनित करते हैं । अंतर सिर्फ इतना है कि यहाँ वस्तुगत यथार्थ को अंतर्जगत उस मात्रा में घुला लेता है जितनी उस यथार्थ की ऐंद्रिय उद्‌बुद्धता के लिए आवश्यक है । इस प्रकार एक प्रगीतधर्मी कविता में वस्तुगत यथार्थ अपनी चरम आत्मपरकता के रूप में ही व्यक्त होता है ।

मुक्तिबोध की आत्मपरक छोटी कविताओं में निहित सामाजिक सार्थकता का बोध स्वभावत: हमारा ध्यान उन्हीं के समानधर्मी एक अन्य कवि त्रिलोचन की ओर ले जाता है जिन्होंने कुछ चरित्र केंद्रित लंबी वर्णनात्मक कविताओं के बावजूद ज्यादातर सॉनेट और गीत ही लिखे हैं । कहने के लिए तो ये प्रगीत हैं लेकिन जीवन, जगत और प्रकृति के जितने रंग-बिरंगे चित्र त्रिलोचन के काव्य संसार में मिलते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं । किंतु इन भास्वर चित्रों को अंतत: जीवंत बनानेवाला प्रगीत नायक का एक अनूठा व्यक्तित्व है जिसका स्पष्ट चित्र 'उस जनपद का कवि हूँ' संग्रह के उन आत्मपरक सॉनेटों में मिलता है । वही त्रिलोचन है वह जिसके तन पर गंदे कपड़े हैं–जैसे आत्मचित्र वस्तुत: एक प्रगीत नायक की निर्वैयक्तिक कल्प-सृष्टि है, जिनसे नितांत वैयक्तिकता के बीच भी एक 'प्रतिनिधि चरित्र' से परिचय की अनुभूति होती है । यदि ऐसे आत्मपरक प्रगीत सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से अप्रासंगिक माने जाएँगे तो फिर हिंदी कविता की स्थिति विपन्न ही कहलाएगी ।

प्रसंगवश यहीं नागार्जुन का भी स्मरण किया जा सकता है, जिनकी बहिर्मुखी आक्रामक काव्य प्रतिभा के बीच आत्मपरक प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति के क्षण कम ही आते हैं, लेकिन जब आते हैं तो उनकी विकट तीव्रता प्रगीतों के परिचित संसार को एक झटके से छिन्न-भिन्न कर देती है फिर चाहे वह 'तन गई रीढ़'–जैसी प्रेम तथा ममता की नितांत निजी अनुभूति हो, चाहे जेल के सींखचों से सिर टिकाए चलने वाला अनुचिंतन और अनुताप, नागार्जुन के काव्य संसार के प्रगीत नायक का निष्कवच फक्कड़ व्यक्तित्व उनके प्रगीतों को विशिष्ट रंग तो देता ही है, निश्चित सामाजिक अर्थ भी ध्वनित करता है ।

प्रगीत काव्य के प्रसंग में मुक्तिबोध, त्रिलोचन और नागार्जुन के उल्लेख से यदि कुछ लोगों की भौंहें उठें या तनें तो इसका कारण सिर्फ यह होगा कि यह एक नया प्रगीतधर्मी कवि-व्यक्तित्व है : चिर-परिचित प्रतिमा से नितांत भिन्न । अपनी वैयक्तिकता में विशिष्ट और सामाजिकता में सामान्य । व्यक्तिवादी न होते हुए भी व्यक्ति-विशिष्ट । अपने समाज से लड़ते हुए भी सामाजिक । दुनियादार न होते हुए भी इसी दुनिया का । ये नए प्रगीत इसी नए व्यक्तित्व से संभव हो सके हैं ।

इस नए प्रगीतधर्मी कवि-व्यक्तित्व के समकालीन विकास की दशाओं पर दृष्टिपात करने से पूर्व एक बार हिंदी कविता के इतिहास में प्रगीतधर्मी कविताओं की सामाजिक भूमिका का सिंहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा ।

कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस साहित्य में काव्योत्कर्ष के मानदंड प्रबंधकाव्यों के आधार पर बने हों और जहाँ प्रबंधकाव्य को ही व्यापक जीवन के प्रतिबिंब के रूप में स्वीकार किया गया हो, उसकी कविता का इतिहास मुख्यतः प्रगीत मुक्तकों का है, यही नहीं बल्कि गीतों ने ही जनमानस को बदलने में क्रांतिकारी भूमिका अदा की है । 'रामचरितमानस' की महिमा से किसी को इनकार नहीं, लेकिन 'विनय पत्रिका' के पद एक व्यक्ति का अरण्य रोदन मात्र नहीं है । यह तो मानस के मर्मी भी मानते हैं कि तुलसी के विनय के पदों में पूरे युग की वेदना व्यक्त हुई है और उनकी चरम वैयक्तिकता ही परम सामाजिकता है । तुलसी के अलावा कबीर, सूर, मीरा, नानक, रैदास आदि अधिकांश संतों ने प्रायः दोहे और गेय पद ही लिखें हैं । यदि विद्यापति को हिंदी का पहला कवि माना जाए तो हिंदी कविता का उदय ही गीत से हुआ, जिसका विकास आगे चलकर संतों और भक्तों की वाणी में हुआ । गीतों के साथ हिंदी कविता का उदय कोई सामान्य घटना नहीं, बल्कि एक नई प्रगीतात्मकता (लिरिसिज्म) के विस्फोट का ऐतिहासिक क्षण है जिसके धमाके से मध्ययुगीन भारतीय समाज की रूढ़ि-जर्जर दीवारें हिल उठीं, साथ ही जिसकी माधुरी सामान्यजन के लिए संजीवनी सिद्ध हुई । कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकभाषा की परिष्कृत प्रगीतात्मकता का यह उन्मेष भारतीय साहित्य की अभूतपूर्व घटना है, जिसकी अभिव्यक्ति हिंदी के साथ ही भारत की सभी आधुनिक भाषाओं में लगभग साथ-साथ हुई ।

प्रगीतात्मकता का दूसरा उन्मेष बीसवीं सदी में रोमांटिक उत्थान के साथ हुआ, जिसका संबंध भारत के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष से है । भक्ति काव्य से भिन्न इस रोमांटिक प्रगीतात्मकता के मूल में एक नया व्यक्तिवाद है, जहाँ 'समाज' के बहिष्कार के द्वारा ही व्यक्ति अपनी सामाजिकता प्रमाणित करता है । इन रोमांटिक प्रगीतों में भक्तिकाव्य जैसी तन्मयता भले न हो, किंतु आत्मीयता और ऐंद्रियता कहीं अधिक है । उल्लेखनीय है कि इस दौरान सीधे-सीधे राष्ट्रीयता संबंधी विचारों तथा भावों को काव्यरूप देनेवाले

मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रकवि भी हुए और अधिकांशत: उन्होंने प्रबंधात्मक काव्य ही लिखे, जिन्हें उस समय ज्यादा 'सामाजिक' माना गया; लेकिन प्रबुद्धजनों को जल्द ही इस सचाई का एहसास हो गया कि असामाजिक प्रतीत होनेवाले रोमैंटिक प्रगीत उस युग की चेतना को कहीं अधिक गहराई से वाणी दे रहे थे और उनकी 'असामाजिकता' में ही सच्ची सामाजिकता थी ।

आलोचकों की दृष्टि में सच्चे अर्थों में प्रगीतात्मकता का आरंभ यही है, जिसका आधार है समाज के विरुद्ध व्यक्ति । इस प्रकार प्रगीतात्मकता का अर्थ हुआ 'एकांत संगीत' अथवा 'अकेले कंठ की पुकार' । प्रगीतात्मकता की यह धारणा इतनी बद्धमूल हो गई है कि आज भी प्रगीत के रूप में प्राय: उसी कविता को स्वीकार किया जाता है जो नितांत वैयक्तिक और आत्मपरक हो । चूँकि इस प्रकार के व्यक्तिवाद को जन्म देने वाली औद्योगिक पूँजीवादी समाजव्यवस्था, समाप्त होने की जगह और भी विकसित हो रही है, इसीलिए फिलहाल प्रगीत कविता की इस मानसिक धारणा से छुटकारा संभव नहीं ।

निश्चय ही इस स्थिति में कुछ परिवर्तन घटित हुआ है । फलत: कवि की मानसिकता भी बदली है । व्यक्ति बनाम समाज जैसे सरल द्वंद्व का स्थान समाज के अपने अंतर्विरोधों ने ले लिया है । व्यक्तिवाद उतना आश्वस्त नहीं रहा । स्वयं व्यक्ति के अंदर भी अंत:संघर्ष पैदा हुआ । विद्रोह का स्थान आत्मविडंबना ने ले लिया । इस प्रकार प्रगीतात्मकता विडंबनाग्रस्त हुई और उसके रचना-विन्यास में पेचीदगी आई । आत्मपरकता कदाचित और बढ़ी । इसके साथ ही आत्मेतर का दबाव भी । तथाकथित नई कविता की प्रगीतात्मकता में आए नए मोड़ों और मरोड़ों को इसी आलोक में समझा जा सकता है ।

इस प्रसंग में मुझे शमशेर जी की 1941 की लिखी एक कविता याद आ रही है, जिसे संयोग से उन दिनों काशी में एक शाम उन्हीं के मुख से सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । कविता इस प्रकार है–

लेकर सीधा नारा
कौन पुकारा
अंतिम आशाओं की संध्याओं से ?
पलकें डूबी ही सी थीं –
पर अभी नहीं;
कोई सुनता सा था मुझे
कहीं;
पर किसने यह, सातों सागर के पार
एकाकीपन से ही, मानो-हार,
एकाकी उठ मुझे पुकारा
कई बार ?
मैं समाज तो नहीं ; न मैं कुल

जीवन ;
कण-समूह में हूँ मैं केवल
एक कण ।
-कौन सहारा !
मेरा कौन सहारा !

आज दुबारा इस कविता को पढ़ते हुए मुझे थियोडोर एडोर्नो का एक वाक्य याद आ रहा है जिसका भाव यह है कि "कविता जो कुछ कह रही है उसे सिर्फ वही समझ सकता है जो इसके एकाकीपन में मानवता की आवाज सुन सकता है ।" मैं इस कविता की व्याख्या करने का साहस न करूँगा, लेकिन यहाँ समाज के उस दबाव को भी महसूस किया जा सकता है और अपने अकेले होने की विडंबना को भी; और यही वे बिंदु हैं जो इस कविता की निराशा को बच्चन जैसे कवियों की सरल सपाट निराशा से अलग करते हुए एक गहरी सामाजिक सचाई को व्यक्त करते हैं ।

इस साँसत की स्थिति से उबरने का एक उपाय तो वह है जिसे एक समय के प्रगतिवाद ने सुझाया था : अंदर से एकदम बाहर निकलकर जनता के पास जाना । निस्संदेह कुछ लोगों ने यह रास्ता अपनाया भी-यहाँ तक कि शमशेर जी भी कभी-कभी उस रास्ते चल पड़ते थे । परिणाम, कविता नितांत सामाजिक हो गई और जिस हद तक हुई उस हद तक प्रगीतात्मकता से ही नहीं बल्कि कवित्व से भी वंचित हुई । जल्द ही रघुवीर सहाय के शब्दों में कवि ने, यदि वह संवेदनशील हुआ तो, अनुभव किया कि "बाहर बाहर जाते जाते/अब अपना मन खाली है ।" इस अनुभव के बाद या तो फिर वही अंतर्गुहावास ! या फिर आत्मसंघर्ष । नई कविता के अनेक कवियों ने अंतर्गुहावास का रास्ता अपनाया तो मुक्तिबोध ने आत्मसंघर्ष का, जो उन्हें प्रायः बहिःसंघर्ष में भी झोंकता रहा । एक में प्रगीतात्मकता सीमित हुई तो दूसरे में प्रगीतात्मकता के कुछ नए आयाम उद्घाटित हुए । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दो छोरों के बीच तथा इनके अलावा और भी अनेक स्थितियाँ रही हैं, जिनके ब्यौरे में जाने का समय संप्रति नहीं है । प्रसंगवश इतना ही कहना काफी होगा कि अभी कुछ साल पहले एक दशक ऐसा फिर आया था जब अनेक कवि अपने अंदर का दरवाजा तोड़कर एकदम बाहर निकल आए थे और व्यवस्था के विरोध के जुनून में उन्होंने ढेर सारी 'सामाजिक' कविताएँ लिख डालीं, जिन्हें देखकर कविता को भी शर्म आए । गनीमत है कि वह दौर जल्द ही खत्म हो गया ।

पिछले पाँच वर्षों से हिंदी कविता के वातावरण में फिर कुछ परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं । यह परिवर्तन न बहुत बड़ा है, न क्रांतिकारी ही ! लेकिन कविता की पुनःप्रतिष्ठा, प्रत्यभिज्ञान अथवा प्रत्याश्वस्ति जैसा कुछ अवश्य है । संयोग से यह परिवर्तन इधर उभरनेवाली एक युवा पीढ़ी के कवियों के द्वारा घटित हुआ है, लेकिन इसमें पहले की पीढ़ी के कवियों के किंचित बदले हुए स्वर का भी योगदान है । इसे मैं एक नई प्रगीतात्मकता का उभार कहना चाहूँगा । आज कवि को न तो अपने अंदर झाँककर देखने में संकोच है, न बाहर के यथार्थ का सामना करने में कोई हिचक । अंदर न तो किसी असंदिग्ध विश्वदृष्टि का मजबूत खूँटा गाड़ने की जिद है और न बाहर व्यवस्था को एक विराट पहाड़ के रूप में आँकने की हवस । बाहर छोटी से छोटी घटना, स्थिति, वस्तु आदि पर नजर है और कोशिश है उसे अर्थ

देने की । इसी प्रकार बाहर की प्रतिक्रियास्वरूप अंदर उठनेवाली छोटी से छोटी लहर को भी पकड़कर उसे शब्दों में बाँध लेने का उत्साह है । अब यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि न रोमैंटिक ढंग का व्यक्तिवादी विद्रोह संभव है और न अपने अंदर सिमटकर मानसिक जुगाली करने में ही निष्कृति है । गरज कि एक नए स्तर पर कवि-व्यक्ति अपने और समाज के बीच के रिश्ते को साधने की कोशिश कर रहा है और इस प्रक्रिया में जो व्यक्तित्व बनता दिखाई दे रहा है वह निश्चय ही एक नए ढंग की प्रगीतात्मकता के उभार का संकेत है ! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह रोमैंटिक गीतों की वापसी नहीं है और न ही कविता को नितांत वैयक्तिक मोड़ देने की कोई साजिश ! इसका अर्थ उन आत्मपरक कविताओं की ओर आलोचक की वापसी भी नहीं है जिसे पहले मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में और फिर मैंने 'कविता के नए प्रतिमान' में ''जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति'' के रूप में तिरस्कृत किया था । जरूरी नहीं कि यह प्रगीतात्मकता छंदों की ओर लौटकर ही अपनी विशिष्टता प्रमाणित करे । इधर की कविताओं से धीरे-धीरे यह बात पुष्ट होती जा रही है कि मितकथन में अतिकथन से अधिक शक्ति होती है और ठंढे स्वर की तासीर भी कभी-कभी काफी गरम होती है ।

यदि सिर्फ दो ठोस उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करनी हो तो इस नई प्रगीतात्मकता का एक पहलू केदारनाथ सिंह की इस कविता से व्यक्त होता है–

उसका हाथ
अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा
दुनिया को
हाथ की तरह गर्म और सुंदर होना चाहिए ।

और दूसरा पहलू शरद विल्लौरे की 'तय तो यही था' कविता की इन अंतिम पंक्तियों से–

हारकर मैं
समूचा तराजू पर ही चढ़ गया
आसमान से फूल नहीं बरसे
कबूतर ने कोई दूसरा रूप नहीं लिया
और मैंने देखा
बाज की दाढ़ में
आदमी का खून लग चुका है !

❑❑❑

अभ्यास

पाठ के साथ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य-आदर्श क्या थे, पाठ के आधार पर स्पष्ट करें ।
2. 'कला कला के लिए' सिद्धांत क्या है ?
3. प्रगीत को आप किस रूप में परिभाषित करेंगे । इसके बारे में क्या धारणा प्रचलित रही है ?
4. वस्तुपरक नाट्यधर्मी कविताओं से क्या तात्पर्य है ? आत्मपरक प्रगीत और नाट्यधर्मी कविताओं की यथार्थ-व्यंजना में क्या अंतर है ?
5. हिंदी कविता के इतिहास में प्रगीतों का क्या स्थान है, सोदाहरण स्पष्ट करें ।
6. आधुनिक प्रगीत काव्य किन अर्थों में भक्ति काव्य से भिन्न एवं गुप्त जी आदि के प्रबंध काव्य से विशिष्ट है ? क्या आप आलोचक से सहमत हैं ? अपने विचार दें ।
7. "कविता जो कुछ कह रही है उसे सिर्फ वही समझ सकता है जो इसके एकाकीपन में मानवता की आवाज सुन सकता है ।" इस कथन का आशय स्पष्ट करें । साथ ही, किसी उपयुक्त उदाहरण से अपने उत्तर की पुष्टि करें ।
8. मुक्तिबोध की कविताओं पर पुनर्विचार की आवश्यकता क्यों है, आलोचक के इस विषय में क्या निष्कर्ष हैं ?
9. त्रिलोचन और नागार्जुन के प्रगीतों की विशेषताएँ क्या हैं ? पाठ के आधार पर स्पष्ट करें । नामवर सिंह ने त्रिलोचन के सॉनेट 'वही त्रिलोचन है वह' और नागार्जुन की कविता 'तन गई रीढ़' का उल्लेख किया है, ये दोनों रचनाएँ 'पाठ के आस-पास' खंड में दी गई हैं, उन्हें भी पढ़ते हुए अपने विचार दें ।
10. 'मितकथन में अतिकथन से अधिक शक्ति होती है', केदारनाथ सिंह की उद्धृत कविता से इस कथन की पुष्टि करें । दिगंत (भाग - 1) में प्रस्तुत 'हिमालय' कविता के प्रसंग में भी इस कथन पर विचार करें ।
11. हिंदी की आधुनिक कविता की क्या विशेषताएँ आलोचक ने बताई हैं ?

पाठ के आस-पास

1. पाठ में अनेक कवियों और कविताओं के नाम आए हैं । उन्हें अलग-अलग लिखें तथा उनसे परिचय विकसित करें ।
2. नामवर सिंह हिंदी आलोचना के शीर्षस्थ पुरुष हैं । इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संबंध में अपने शिक्षक से जानकारी प्राप्त करें ।
3. मुक्तिबोध अपनी लंबी कविताओं के लिए ख्यात हैं । 'अँधेरे में', 'ब्रह्मराक्षस' आदि उनकी बहुचर्चित लंबी कविताएँ हैं । इन कविताओं के संबंध में अपने शिक्षक से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें ।
4. नामवर सिंह ने त्रिलोचन के सॉनेट 'वही त्रिलोचन है वह' और नागार्जुन की कविता 'तन गई रीढ़' का उल्लेख किया है । दोनों रचनाएँ यहाँ दी जा रही हैं ।

वही त्रिलोचन है वह

वही त्रिलोचन है, वह-जिसके तन पर गंदे
कपड़े हैं । कपड़े भी कैसे फटे-लटे हैं,
यह भी फैशन है, फैशन से कटे-कटे हैं ।

कौन कह सकेगा इसका यह जीवन चंदे
पर अवलंबित है, चलना तो देखो इसका -
उठा हुआ सिर, चौड़ी छाती, लंबी बाँहें,
सधे कदम, तेजी, वे टेढ़ी-मेढ़ी राहें,
मानो डर से सिकुड़ रही हैं, किसको किसका
ध्यान इस समय खींच रहा है । कौन बताए,
क्या हलचल है, इसके रुँधे रुँधाए जी में
कभी नहीं देखा है इसको चलते धीमे ।
धुन का पक्का है, जो चेते वही चिताए ।
जीवन इसका जो कुछ है पथ पर बिखरा है,
तप तपकर ही भट्ठी में सोना निखरा है ।

तन गई रीढ़

झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गई रीढ़

महसूस हुई कंधों को
पीछे से,
किसी नाक की सहज उष्ण निराकुल साँसें
तन गई रीढ़

कौंधी कहीं चितवन
रेंग गए कहीं किसी के होंठ
निगाहों के जरिए जादू घुसा अंदर
तन गई रीढ़

गूँजी कहीं खिलखिलाहट
टूक टूक होकर छितराया सन्नाटा
भर गए कर्णकुहर
तन गई रीढ़

आगे से आया
अलकों के तैलाक्त परिमल का झोंका
रग-रग में दौड़ गई बिजली
तन गई रीढ़

4. 'मानस के मर्मी भी मानते हैं कि तुलसी के विनय के पदों में पूरे युग की वेदना व्यक्त हुई है और उनकी चरम वैयक्तिकता ही परम सामाजिकता है ।' आपकी पाठ्यपुस्तक में विनय पत्रिका के दो पद संकलित हैं । उन्हें पढ़ते हुए आलोचक के इस कथन पर विचार करें ।

5. आलोचक ने नई पीढ़ी के जिन कवियों की ओर संकेत किया है, आपकी पुस्तक में संकलित ज्ञानेंद्रपति और दिगंत (भाग - 1) में संकलित अरुण कमल उन्हीं में से हैं । इस पीढ़ी के अन्य कवियों के नाम मालूम करें ।

भाषा की बात

1. दिए गए शब्दों से विशेषण बनाइए -
   तीव्रता, समाज, व्यक्ति, आत्मा, प्रसंग, विचार, इतिहास, स्मरण, शर्म, लक्षण, इंद्रिय ।
2. नीचे लिखे वाक्यों से अव्ययों और कारक चिह्नों को अलग करें, कारक के चिह्न किस कारक के हैं, यह भी बताएँ -
   (क) कहने को आवश्यकता नहीं कि ये आत्मपरक प्रगीत भी नाट्यधर्मी लंबी कविताओं के सदृश ही यथार्थ को प्रतिध्वनित करते हैं ।
   (ख) इस दिशा में पुनर्विचार के लिए सच पूछिए तो मुझे सबसे पहले प्रेरणा स्वयं मुक्तिबोध के काव्य से ही मिली ।
   (ग) आज भी प्रगीत के रूप में प्राय: उसी कविता को स्वीकार किया जाता है जो नितांत वैयक्तिक और आत्मपरक हो ।
   (घ) एक में प्रगीतात्मकता सीमित हुई तो दूसरे में प्रगीतात्मकता के कुछ नए आयाम उद्घाटित हुए ।
3. रचना की दृष्टि से निम्नलिखित वाक्यों की प्रकृति बताएँ एवं संयुक्त वाक्य को सरल वाक्य में बदलें-
   (क) कविता पर समाज का दबाव तीव्रता से महसूस किया जा रहा है ।
   (ख) यह परिवर्तन न बहुत बड़ा है, न क्रांतिकारी ।
   (ग) मुक्तिबोध ने सिर्फ लंबी कविताएँ ही नहीं लिखी हैं ।
   (घ) आलोचकों की दृष्टि में सच्चे अर्थों में प्रगीतात्मकता का आरंभ यही है, जिसका आधार है समाज के विरुद्ध व्यक्ति ।
   (ङ) पिछले पाँच-छह वर्षों से हिंदी कविता के वातावरण में फिर कुछ परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं ।

शब्द निधि

नितांत	:	बिलकुल	मर्मी	:	मर्मवाला, हार्दिक
निष्कृति	:	मुक्ति, छुटकारा	परिष्कृत	:	निखरा हुआ, साफ
उद्भावना	:	कल्पना	आत्मेतर	:	आत्म से भिन्न
प्रतिमान	:	मूल्य, माप	उन्मेष	:	जगना, नई समझ
इतिवृत्त	:	तथ्य, कथासार, घटनासार	अंतर्गुहावास	:	मन की गुफा में रहना जहाँ कोई देख पहचान न सके
एकांगी	:	एकपक्षीय			
उद्बुद्धता	:	मानसिक जागृति	प्रत्याश्वस्ति	:	किसी वस्तु या भाव को देखकर मन में संतोष होना
निर्वैयक्तिक	:	जो व्यक्तिगत न हो, वस्तुपरक			
कल्प-सृष्टि	:	काल्पनिक सृष्टि	तासीर	:	प्रभाव, असर
अरण्य रोदन	:	निर्जन वन में रोना, जिसे कोई सुननेवाला न हो	अनुचिंतन	:	किसी वस्तु या घटना के अनुरूप चिंतन
			अनुताप	:	किसी घटना या बात के बाद का दुख
संजीवनी	:	मुर्दों को जिलाने वाली जड़ी	कर्णकुहर	:	कानों के भीतर के हिस्से